दलाई लामा भोट-भारती ग्रन्थमाला-२

बौद्ध समाजदर्शन

सम्पादक

सी० मणि

H
181.491
M 314 B

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्दः २५३९ सन् १९९५ ई०

दलाई लामा भोट-भारती ग्रन्थमाला-२

बौद्ध समाजदर्शन

सम्पादक
सी० मणि

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्दः २५३९ सन् १९९५ ई०

दलाई लामा भोट-भारती ग्रन्थमाला-२

प्रधान सम्पादक प्रो. समदोङ् रिनपोछे

प्रथम संस्करण : १९७२ ई0
द्वितीय संस्करण : ५५0 प्रतियाँ, १९९५ ई0

मूल्य : रु0 १८.00

© १९७२, १९९५ केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी - २२१००७
प्रकाशन सम्बन्धी सभी अधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी २२१००७

Library IIAS, Shimla
H 181.491 M 314 B
00095019

मुद्रक : शिवम् प्रिन्टर्स, मलदहिया, वाराणसी

प्रकाशकीय

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ द्वारा १९७१ में "बौद्ध समाजदर्शन" विषय पर संगोष्ठी सम्पन्न हुई थी । इस संगोष्ठी में हिन्दी में प्राप्त पाँच लेखों का प्रकाशन "बौद्ध समाजदर्शन" शीर्षक से संस्थान के दलाई लामा भोट-भारतीय ग्रन्थमाला-२ के रूप में १९७२ में हुआ था ।

यद्यपि यह ग्रन्थ संस्थान का प्रारम्भिक प्रकाशन होने से मुद्रण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रहा, फिर भी अध्येताओं ने इसमें पर्याप्त रुचि दिखलाई । अनेक वर्षों से यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था । इस ग्रन्थ की निरन्तर माँग के कारण इसके द्वितीय संस्करण को प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है ।

मैं उस संगोष्ठी में सम्मिलित लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनकी अनुकम्पा के बिना यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पाता । श्री सी० मणि इसके प्रथम संस्करण के सम्पादन तथा इस संशोधित संस्करण के लिए धन्यवाद के पात्र हैं ।

सारनाथ
१६ मार्च, १९९५

स० रिन्पोछे
निदेशक

वक्तव्य

इस पुस्तक में संगृहीत रचनाओं में बौद्ध दर्शन के सामाजिक पक्ष को जिस वास्तविकता के आधार पर प्रस्तुत किया गया है वह हमें इस विषय के आनुषंगिक खोज की ओर प्रेरित करता है । जो लोग बौद्ध दर्शन को केवल निवृत्तिमार्गी समझते हैं उनका उसके लोकमंगल की भावना को परखने के लिए उसके भीतर झाँक लेना ही पर्याप्त होगा । उसमें समाज के हर तरह के मनोरम और दुर्दान्त चित्र प्रायः मिल जायँगे । इसके साथ ही समाज की संघीय इकाइयों से अनुस्यूत निकायों, गणों या श्रेणियों का क्रमिक विकास भी स्पष्टतः दिखाई देगा । बुद्ध के समता, मैत्री और सद्भावना के सन्देश उसमें पूर्णतया विद्यमान हैं ।

लगभग दो दशक पूर्व संस्थान द्वारा आयोजित एक विद्वत् संगोष्ठी में पठित उक्त निबन्धों का विद्वानों के बीच अच्छा आदर हुआ था जिससे इसे पुस्तक के रूप में मुद्रित करना वांछनीय समझा गया ।

पुस्तक समाज के लिए अवश्य उपयोगी होगी ।

सम्पादक

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय iii

वक्तव्य v

बौद्ध समाजदर्शन
छिमेद् रिगज़िन लामा 1

महायान बौद्ध दर्शन में समाज की व्यवस्था
अर्चा टुल्कू 8

बौद्ध चर्यापदों की सामाजिक व्याख्या
नागेन्द्रनाथ उपाध्याय 13

बौद्ध धर्म की समाज–व्यवस्था
संगमलाल पांडेय 21

बौद्धदर्शन का सामाजिक पक्ष
द्विजराम यादव 31

बौद्ध समाजदर्शन

छिमेद् रिगजिन लामा

समाज की प्रारम्भिक अवस्था

तिब्बती त्रिपिटक के विनय पिटक के वाल्यूम सं0 ग (३), फ़ोलियो सं0 ४२० नार्थग एडिशन तथा डॉ0 नलिनाक्ष दत्त के 'उत्तर भारतीय बौद्ध धर्म' आदि कुछ भारतीय ग्रंथों के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत है ।

इसी भद्र कल्प के प्रारम्भ में तुषित देव–स्थान से देव–पुत्र सूर्यप्रभ तथा चन्द्रविमल दोनों से जंबुद्वीप में मानवजाति का जन्म हुआ । ये मानव दीर्घजीवी होते थे और वे स्वयं प्रकाशित थे । ऋद्धि कर सकते थे और समाधि–भोजन द्वारा जीवित रहते थे । वे रूपधातु के देव जैसे थे । अन्त में उन मनुष्यों को भाग्यदोष से रस–अभिलाष हुआ । मानव, मनुज आदि ने धातु–भोजन अमृत रस का पान किया । रस हजम नहीं हुआ और मल बन गया । ब्रह्मा ने आकर उन लोगों को गरम पानी पिलाया और मल निकल गया । उसके बाद से मनुष्य का रूप–रंग, प्रकाश समाप्त हो गया और सर्व जगत् के भाग्यानुसार सूर्य, चन्द्र, तारे, दिन, रात, सुन्दरता, कुरूपता, ईर्ष्या तथा अहंकार उत्पन्न हुये और अमृत रस सूख गया । उसके बाद कर्मानुसार भूमि, तेल, फल और फसल आदि चाहने पर ही मिलने लगे । उस कल्प का नाम 'सत्ययुग' था । खाने–पीने के कारण पुरुष और स्त्री का रूप अलग–अलग हो गया । क्लेश के कारण प्रेम उत्पन्न हुआ । उसके बाद गर्भज की उत्पत्ति हुई । मनुष्य ने गृह–निर्माण करना आरम्भ किया । लोभ तथा इच्छा के कारण फसल भी छिलका वाली उत्पन्न होने लगी । चाहने पर ही अब भोजन मिलना बंद हो गया । इसी कारण खेती का आरम्भ हुआ । लेकिन एक–दूसरे की फसल हड़पने के कारण झगड़ा आरम्भ हुआ ।

इस परिस्थिति में सब मनुष्यों ने एक साथ एकत्रित होकर यह निर्णय किया कि हमं लोगों में जो सबसे अधिक सुन्दर, बुद्धिमान और शक्तिशाली होगा उसी को प्रजापति बनाएँगे । वही हम लोगों की जमीन और फसल का बँटवारा करेगा और झगड़े का फैसला करेगा । सर्वसम्मति से चुने गये इस व्यक्ति का नाम हुआ महासम्मत राजा अर्थात् प्रजापति । उसको प्रत्येक वर्ष लोगों की सेवा के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपनी फसल का छठा भाग देने लगा । अन्त में यही व्यक्ति कर वसूल करने लगा । इसी से क्षत्रिय जाति और राजकुल बने । उस कल्प में चोरी और दूसरों की चीज हड़पने का आरम्भ हुआ, इसीलिये उसका नाम 'द्वापर' युग हुआ ।

'माङ्पोस–कुरवा' महासम्मत राजा तथा क्षेत्राधिकारी जब शान्तिपूर्वक झगड़ा नहीं मिटा सके, मार–पीट और प्राणदंड का भी आश्रय लिया गया । उस समय कोई कोई झूठ बोलने वाले भी थे । उस कल्प का नाम 'कलियुग' पड़ा । महासम्मत राजा के पुत्र प्रभासुन्दर, कुशल, परम कुशल इत्यादि को प्रथम कल्प के पाँच राजा कहते हैं । ज्ञालिन, सुन्दर, उपसुन्दर, सुन्दरवन, उपसुन्दर वन आदि पाँच चक्रवर्ती राजा हुए । उसी समय बुद्ध–चक्र इस संसार में आया । इसके बाद राजवंशों की लम्बी सूची है । इसी वंश में आगे चलकर राजा शुद्धोदन हुये । मैं यहाँ यही बताना चाहता हूँ कि बुद्ध का जन्म गणतांत्रिक या समाजवादी कुल में हुआ था । कोई कोई शास्त्रवेत्ता कहते हैं कि मैं ही भगवान हूँ, मैं भगवान का दूत हूँ लेकिन बुद्ध का कहना है कि आर्य अष्टांगिक कर्म से उसका फल–शान्ति मिल सकती है । 'संसार दुःख से परिपूर्ण है । उस दुःख के हेतु को जान लो । दुःख का निरोध करो । निरोध के मार्ग की साधना करों' ऐसा बुद्ध का उपदेश है ।

बुद्ध युग के दुःख और आजकल के दुःख में कोई अन्तर नहीं है । इस दुःख को बन्द करने के लिये बौद्ध धर्म शासन

का नियम पालन करना अत्यावश्यक है । बुद्ध के उपदेश काल में श्रेष्ठ विद्वान् तथा ज्येष्ठ भिक्षु को स्थविर बनाते थे । यह भी एक प्रकार की समाजवादी पद्धति थी । बौद्ध काल में राशन की भी व्यवस्था थी । एक-एक भिक्षु के हाथ में एक-एक छोटी शलाका रहती थी । यदि किसी भिक्षु के हाथ में वह शलाका न रहे तो उसका अर्थ होता था कि उसने भोजन कर लिया है या वह उस संघ का भिक्षु नहीं है । भिक्षुओं को दो वस्त्र, एक जो वह पहने रहता था और दूसरा पास में रखने के अतिरिक्त अधिक वस्त्र तथा अन्य कोई खाद्य रखने की अनुमति नहीं थी । बौद्ध शिष्यों को शरीर और वाक् द्वारा प्रजा (जन) की सेवा करनी पड़ती थी ।

मानव सेवा और भूतदया

शरीर द्वारा सेवा—जैसे दुर्गम स्थानों में पुल बनाना, रास्ता बनाना, आराम बनाना इत्यादि ।

वचन द्वारा सेवा—जैसे धर्मोपदेश देना, करुणा, मैत्री, आनन्द और क्षमता या उपेक्षा आदि का उपदेश देना । उससे लोगों का क्लेश कम होकर शान्ति मिलती थी । जैसे क्रोध कम होने से झगड़ा नहीं होता ।

यह बौद्ध सामाजिक व्यवस्था तिब्बती लोगों में अभी भी प्रचलित है । इसी करण आज के युग में भी समाज सुधार और समाज सेवा बौद्ध धर्म के नियमों द्वारा अच्छी तरह सम्पादित हो सकते हैं । सामाजिक भाषण द्वारा जनता की सेवा नहीं हो सकती । उसके लिये कार्य करने की आवश्यकता है ।

मेरे इस निबन्ध में चार विषय प्रधान हैं । यदि इसके अनुसार एकाग्रचित्त से साधना की जाय तो इसी जीवन में या दूसरे जीवन में निर्वाण प्राप्त हो सकता है । हीन पुरुष, मध्य पुरुष, महापुरुष या परम पुरुष के कर्म-मार्ग तथा तंत्र के ऊपर

थोड़ा प्रकाश डाला गया है । यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि धर्म के द्वारा समाज सुधार या देश सेवा कैसे होगी ? प्रत्येक मार्ग में हीन पुरुष तीन-दुर्गम स्थानों से छूट कर मनुष्य, सुर आदि जीवन प्राप्त करना चाहता है । मध्यमपुरुष संसार से निराश होकर स्वयं मुक्त होना चाहता है । महापुरुष, परमपुरुष परहित के लिए चर्या करते हैं । तंत्र में परम आनन्द पाने के लिये साधक स्वयं साधना करता है । तो इस प्रकार जन सेवा कैसे होगी ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि हीन पुरुष अपने लिये चाहने पर भी दस अकुशल कर्म को त्याग करके कुशल धर्म को पूरा करना अपना कर्त्तव्य समझता है । इसी कारण दूसरों की सेवा चिन्ता नहीं करने पर भी परोक्ष रूप से दूसरों के हित के लिए काम होता है । दस अकुशल धर्म—हिंसा, चोरी करना, अब्रह्मचर्य आदि शरीर द्वारा; झूठ बोलना, चुगली, गाली, व्यर्थ वचन बोलना आदि वाक् द्वारा; लालच, हिंसक विचार, मिथ्या दृष्टि आदि चित्त द्वारा दस कर्मों को बन्द कर देने से परोक्ष रूप से गण-सेवा होती है ।

मध्यम पुरुष अपनी शान्ति के लिये तो निश्चय ही चर्या करता है लेकिन 'चार आर्य सत्य धर्म' में से आर्य निरोध मार्ग के आर्य अष्टांग मार्ग, तीन-आदिशिक्षा इत्यादि श्रावक यानी पुरुष तथा 'प्रतीत्य समुत्पाद' आदि का ज्ञान प्रत्येक-बौद्धयानी पुरुष की चर्या है । इन दोनों कार्यों द्वारा भी हीन पुरुष के सम्बंध में कहे गए के अनुसार परोक्ष रूप से लोकसेवा हो सकती है । मध्यम पुरुष स्थूल क्लेश को समाप्त कर देता है । क्लेश समाप्त होने से दूसरों को कष्ट नहीं देता । यह भी परोक्ष रूप से गणहित है ।

परम पुरुष या बोधिसत्व परहित के लिये ही बोधिचित्त उत्पन्न करते और छः प्रज्ञापारमिता आदि द्वारा गण-सेवा करते हैं । यह तो सर्वविदित है ।

अब तंत्र के विषय पर आते हैं । गुह्य मंत्र–तंत्र में क्रिया योग, चर्या योग, अनुत्तर योग, पितृ योग, मातृ योग, अद्वय योग, चित्त वर्ग, उपदेश वर्ग और ख वर्ग आदि में किसी प्रकार अपनी अविद्या द्वारा उत्पन्न क्लेश को सीधे समाप्त करना या उसके मूल को पहचान कर समाप्त करना है । जब मूल को पहचान कर समाप्त कर देते हैं उस समय बोधि–तत्व प्राप्त कर लेते हैं । यहाँ पर भी क्लेश को समाप्त करके गणसेवा होती है ।

तिब्बती परम्परा के अनुसार ये चार मार्ग सीढ़ी के समान हैं । सीढ़ी पर चढ़ने के लिये नीचे से ऊपर जाना पड़ता है । इसी कारण नीचे वाले मार्ग की जानकारी के बिना ऊपरी मार्ग की साधना नहीं हो सकती और एक विशेष बात जानना आवश्यक है । जितनी भी उच्च तांत्रिक साधना की जाय लेकिन बोधि–चित्त उत्पन्न कर चर्या नहीं करने से तांत्रिक साधना संसार के माया–भ्रम में चक्कर खाना मात्र है अर्थात् मार का जन्म होता है । इसी कारण तांत्रिक साधना में बोधिचित्त आवश्यक है ।

मुक्ति के लिये साधना करनेवालों को परम सत्य गुरु की हृदय से भक्ति एवं काया और वाक् द्वारा सेवा करनी चाहिये । उनकी कृपा से ज्ञान प्राप्त होगा और भव कर्म तथा धर्म की सभी वस्तुओं के अनित्य स्वभाव का परिचय प्राप्त होगा । तीन दुर्गतियों (नरक, प्रेत तथा तिर्यक्) के दुःख को पहचान कर दूसरे जन्म में इनसे मुक्ति पाने का उपाय करना चाहिये । संसार दुःखपूर्ण है । कहीं भी शान्ति नहीं है । सांसारिक जीव दुःख से पीड़ित हैं । सब का दुःख देख कर कष्ट होता है । संसार का दुःख सहा नहीं जाता । दुःख–पीड़ित प्राणियों के कष्ट को देखकर 'महाकरुणा' उत्पन्न होनी चाहिये । संसार के कष्टों से केवल स्वयं को मुक्त करने की बात सोचना स्वार्थपूर्ण विचार है ।

जैसे माँ ने मुझे जन्म दिया है । वैसे ही अन्य प्राणियों ने भी मुझे वही जीवन दान दिया है । अतः वे भी संसार के

कष्ट तथा शान्ति से मुक्त होकर निःस्वार्थ भाव से अन्य प्राणियों को भी मुक्त करके बुद्ध के परम पद को प्राप्त करें ।

परार्थ अथवा सर्व–प्राणि–हित

परार्थ या सर्व प्राणियों के हित के लिये साधक को बोधिचित्त उत्पन्न करके बोधिसत्व का पद प्राप्त करना चाहिए । केवल बोधिचित्त उत्पन्न करने मात्र से बोधि प्राप्त नहीं होता । परम बोधि रूपी फल धर्म काया तथा रूप काया से युक्त है । इन दोनों को प्राप्त करने के लिये द्विवर्ग (पुण्य वर्ग और ज्ञान वर्ग) का संग्रह करना चाहिये ।

पुण्यवर्ग के आलम्बन 'दानपारमिता' तथा 'शीलपारमिता' हैं । निरवलम्ब ज्ञान वर्ग में 'प्रज्ञापारमिता' है । शांतिपारमिता, वीर्य पारमिता और ध्यानपारमिता ये तीनों दोनों वर्गों के पर्याय हैं । वैसे द्विवर्ग की साधना करने के लिये छः पारमिताओं की शिक्षा को ध्यान में रखना चाहिये । इसी द्विवर्ग के मार्ग द्वारा धर्मकाया तथा रूपकाया दोनों की प्राप्ति होती है ।

पुण्यवर्ग से उपादान प्रत्यय तथा ज्ञान वर्ग से सहकारी द्वारा बुद्ध की रूपकाया प्राप्त होती है ।

ज्ञानवर्ग के उपादान प्रत्यय तथा पुण्यवर्ग के सहकारी प्रत्यय द्वारा बुद्ध की ज्ञानकाया प्राप्त होती है ।

दुःखपूर्ण जीवन में जन्म लेने के हेतु, कर्म तथा क्लेश दोनों में से क्लेश का त्याग करने से एकमात्र कर्म द्वारा जन्म नहीं ले सकते । क्लेशों में छः मूल क्लेश तथा बीस उपक्लेश आदि बहुक्लेश हैं । इन सब क्लेशों का मूल या प्रधान आत्म–ग्रह–अविद्या है । इसी मूल अविद्या का त्याग करने से सब क्लेशों का निवारण हो जाता है । इस आत्म–ग्रह–अविद्या को त्याग करने का एकमात्र उपाय या मार्ग अन्–आत्म–ग्रह कल्प 'प्रज्ञा' है ।

इस प्रज्ञा की साधना करने के लिए ध्यान या समाधि की आवश्यकता है । समाधि भी शुद्ध शील (आचार) द्वारा ही होती है । संसार से अरुचि तथा मुक्ति (या बोधि) प्राप्त करने के लिए चेष्टा (प्रार्थना) करके बोधिचित्त उत्पन्न करने के लिये, विचार द्वारा प्रतिमोक्ष प्राप्त करने के लिये नियमों का पालन करना आदि–शील शिक्षा है ।

उस शील को आधार मानकर चार आर्य सत्यों के वृत्तान्त (दृष्टि–विषयक) में एक–शिखर–मन स्थिर होना आदि समाधि शिक्षा है । इस समाधि द्वारा चार आर्य सत्य के अट्ठारह दृष्टि–विषयक, द्वादश प्रतीत्य–समुत्पाद तथा छः पारमिताओं द्वारा अन्–आत्म प्रज्ञा का ज्ञान प्राप्त करके संसार के दुःख से मुक्त होना ही विमुक्ति प्राप्त करना है ।

महागुह्य वज्रयान के उपदेशानुसार संसार और निर्वाण के मूल मार्ग–फल को सम्यक् रीति से जानकर चार अभिषेक लेना चाहिये । उसके बाद उत्पन्न क्रम और सम्पन्न क्रम अद्वय गम्भीर उपदेश की साधना करके इसी जीवन में दर्शन साधना और चर्या द्वारा फल प्राप्त करके संयुक्त वज्रधर का पद प्राप्त करना आवश्यक है ।

महायान बौद्ध दर्शन में समाज की व्यवस्था

अर्चा दुल्कू

आजकल प्रचलित 'सोसाइटी' अथवा 'समाज' का शब्द तिब्बती साहित्यिक भाषा में एक नया शब्द है । इस शब्द को अंग्रेज़ी एवं हिन्दी में सोशलिज्म, सोशल साइकॉलॉजी, सोशल साइन्स, सोशल इंस्टीट्यूट, सोशल कॉन्ट्रैक्ट, सोशल फिलॉसफ़ी आदि के रूप में प्रयुक्त किया गया है ।

मैं समझता हूँ कि इन शब्दों से विभूषित बौद्ध दर्शन में कोई दर्शन नहीं है । यदि सोशल अथवा 'समाज' शब्द का अर्थ—गण, समूह अथवा संघ इत्यादि शब्दों के समान माना जाय तो इन सभी शब्दों के लिए तिब्बती भाषा में उचित अनुवाद के उपयुक्त शब्द हैं किन्तु इन्हीं शब्दों को आजकल प्रचलित 'समाज' शब्द की जगह प्रयोग किया जाय तो स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता है । उसी प्रकार 'समाज' शब्द को उन सभी शब्दों के स्थान पर प्रयोग किया जाय तो भी उनका स्पष्ट अर्थ नहीं रह जाता है । 'गुह्यसमाज' शब्द के लिए तिब्बती साहित्यिक भाषा में 'ग् स ङ्—वा–दुस–पा' शब्द आया है । परन्तु गुह्यसमाज शब्द के अन्तर्गत 'समाज' शब्द को तिब्बती भाषा में अनुवाद करने पर उसका अर्थ गण, समूह एव संघ शब्दों के अर्थ से विपरीत नहीं है । उस 'समाज' शब्द का अर्थ आजकल के प्रचलित समाज शब्द के अर्थ से बिल्कुल भिन्न है ।

बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत आधुनिक समाजवादी सिद्धान्तों से मिलता–जुलता अथवा अन्य भाषा में चर्चित समाजदर्शन से मिलते–जुलते विचारों को संगठित कर, प्रस्तुत कर उसका नाम 'बौद्ध समाजदर्शन' रखा जाय तो मेरे विचार से निम्नलिखित दोष ऐसे नामकरण में ठहराये जा सकते हैं ।

(क) सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन, तंत्र एवं सूत्र, दो भागों में विभाजित है । तंत्रयान को चार भागों में बाँटा गया है । सूत्र दर्शन को विनय, सूत्रान्त एवं अभिव्यक्ति—इन तीन भागों में संगठित किया गया है । यदि बौद्ध समाजदर्शन नाम से एक नये दर्शन का निर्माण करें तो यह दर्शन बौद्ध दर्शन के किस भाग में रखा जायगा, यह समझ में नहीं आता ।

(ख) यदि इस दर्शन को अन्य बौद्ध दर्शनों के ऊपर आरोपित किया जाय तो इस विषय में भगवान् बुद्ध द्वारा किये गये विचारों की अनुपस्थिति से इधर अध्ययन का ही दोष हो जाता है ।

(ग) यदि इस दर्शन को बौद्ध दर्शन के किसी भी भाग में संचय नहीं किया जा सके तो एक नवीन एवं आधुनिक बौद्धदर्शन का निर्माण हो जाता है ।

बौद्ध-दर्शन में समाज से संबंधित एवं समाज को सुधारने के लिये विचार-दर्शन हैं और मैं कह सकता हूँ कि जितने बौद्ध दर्शन हैं सब समाज से पूर्णरूपेण सम्बन्धित हैं । जैसे, जब हम पालि ग्रन्थों की ओर अपनी दृष्टि डालते हैं तो समाज को सुधारने के लिये अनेक उपदेश पाते हैं । उदाहरणार्थ—

(क) अक्कोच्छि मं अवधि मं
अजिनि मं अहासि मे
ये यतं उपन्यहन्ति
वेरं तेसं न सम्मति

(ख) न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ (धम्मपद)

समाज के सुधार के लिये मुख्यतः प्रेम, त्याग, नैतिकता, सेवा, संयम एवं सहिष्णुता आदि का मनुष्य के हृदय में होना परम आवश्यक है । बौद्ध-दर्शन के अन्तर्गत इन्हीं विषयों पर

अत्यधिक जोर दिया गया है । जैसे उपर्युक्त श्लोक के प्रथम अंश में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने मन में उसने मुझको मारा, डाँटा, जीत लिया आदि विचार रखते हैं, उनका क्रोध कदापि शान्त नहीं हो सकता । निष्कर्षतः इन सभी को विशेष रूप से त्याग देने को कहा गया है ।

दूसरे श्लोक में यह समझाया गया है कि इस संसार में क्रोध से शत्रु को कभी नहीं शमित किया जा सकता है । अक्रोध (मैत्री) से ही शान्त किया जा सकता है ।

तिब्बत में बौद्ध दर्शन के पूर्णतया प्रसारित होने के पूर्व सातवीं शताब्दी में तैंतीसवें महाराज स्रोङ्त्सन गम्पो द्वारा तिब्बत के प्रथम संविधान को दस नैतिक आचरण तथा सोलह नियमों (छब्बीस सूत्रों) में निर्मित किया गया था, उसका मुख्य उपदेश भी समाज को सुधारने के लिए समाज से पूर्णतया सम्बन्धित है ।

महायान बौद्ध-दर्शन का मुख्य उपदेश समाज को केवल सुधारना ही नहीं, परन्तु समाज को सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के लिये भी उद्देश्यवान् बतलाया गया है । तात्पर्य यह है कि उक्त दर्शन में इस समाज के अथवा सभी प्राणियों के बुद्धत्व प्राप्त करने का सही मार्ग बतलाया गया है । महायान 'बौद्ध-दर्शन' का निचोड़ एवं प्रवेश 'बोधिचित्त' को कहा गया है ।

बोधिचित्त प्राप्त करने के लिये अनेकतः प्रयास एवं बहुत बड़ा त्याग करने की आवश्यकता है । बोधिचित्त प्राप्त करने का मुख्य हेतु करुणा (मैत्री) है । करुणा की सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति के लिये सामाजिक दृष्टि से वर्गभेद एवं जातिभेद से ऊपर उठकर समस्त प्राणियों की उन्नति के अवसरों में समानता प्रदान करना अति आवश्यक है । समाज की व्यवस्था का आधार समता है । परस्पर केवल भाई-भाई का सद्व्यवहार ही नहीं

वरन् सभी प्राणियों को अपनी माँ समझकर उसके दुःख–दर्द को अपना ही दुःख समझना, दूसरों को अपने समान समझना, हीन आदि भावनाओं को त्यागना, अन्य लोगों की सुख–सुविधाओं को समझना तथा उनके विपरीत आचरण न करना ही करुणा का मूल एवं मानवता का धर्म है ।

इन सभी उपदेशों को जीवन में पूरा करने के लिए व्यावहारिक ढंग से समाज की रक्षा करना, समाज की सेवा करना तथा समाज के दुःख–दर्द को दूर करना तथा कर्तव्यनिष्ठ–चेष्टा करनी चाहिये । इसे पूरा करने के लिये महायान बौद्ध–दर्शन में महत्वपूर्ण छः पारमितायें कही गयी हैं—(क) दान (दान देना), (ख) शील (नियम पालन करना), (ग) क्षान्ति वीर्य (सहनशीलता), (घ) कर्मठता, (ङ) ध्यान (समाधि), (च) प्रज्ञा ।

प्रत्येक पारमिता को भी इसी प्रकार छः पारमिताओं में बांटा गया है ।

इन सभी को अलग–अलग रखकर अथवा अवहेलना कर समाज की सेवा अर्थात् समाज को सुधारा नहीं जा सकता है । क्योंकि व्यक्ति समाजहित की रक्षा के लिये अपने स्वार्थ को त्यागकर सहयोग की भावना को प्रयोगतः विश्वप्रेम के सिद्धान्तों को अपनाकर ही कर सकता है । आज व्यक्ति और समाज की खाई संघर्ष एवं शोषण के कारण गहरी होती जा रही है । इस खाई को उपर्युक्त सिद्धान्तों, प्रेम–मैत्री, आचरण की उदारता के द्वारा ही भरा जा सकता है । निज स्वांर्थ के कारण हम दूसरों के हितों को हड़प लेते हैं जिसके कारण समाज में विषमता, निर्धनता और कष्ट आदि बढ़ते जाते हैं । भगवान् तथागत ने केवल मानव ही नहीं वरन् सभी प्राणियों को अपनी माँ समझा । इस भावना को अपनाकर अर्थात् भगवान तथागत के उपदेशों का अनुसरण करके ही मानव में मानवता तथा सम्पूर्ण विश्व में पूर्णरूप से सुख शान्ति लाई जा सकती है ।

बौद्ध चर्यापदों की सामाजिक व्याख्या

नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

बौद्ध सिद्धों द्वारा रचित चर्यापदों को साधनक्रम में आने वाली विविध अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मानना ही अधिक समीचीन होगा । बौद्ध सिद्धों में से अनेक आचार्य भी थे । उन लोगों में से अनेक ने कई शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की थी । सिद्धाचार्य होने के पूर्व उनमें से कुछ लोगों का जीवन सामाजिक था तथा विभिन्न प्रकार के शिक्षणादि कार्यों में वे लोग लगे रहते थे, किन्तु चर्यापदों में अभिव्यक्त उनकी सामाजिक धारणाएँ निस्सन्देह साधनात्मक हैं, जनसामाजिक नहीं क्योंकि वे पारमार्थिक सत्य के साक्षात्कार में दत्तचित्त थे । ऐसी स्थिति में उनकी रचनाओं में जो भी सामाजिक धारणाएँ और मान्यताएँ अभिव्यक्त हैं वे दो प्रकार की हो सकती हैं । साधन स्रोत में पड़े हुए लोगों के प्रति और साधनस्रोत से पृथक् रहने वालों के प्रति उनके विचार प्रायः परस्पर विरोधी हैं । तत्कालीन समाज के अन्य साधन संप्रदायों को भी पृथग्जनों में ही अंतःस्थ करना चाहिये । क्रमशः उपर्युक्त तीन विभागों में बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों में व्यक्त मान्यताओं एवं विचारों का विमर्श यहां किया जा रहा है । तदुपरान्त इनके मूल में क्रियाशील विविध सिद्धांतों का भी उल्लेख किया गया है ।

इस सामाजिक व्याख्या में यह भी देखने का प्रयत्न किया गया है कि बौद्ध सिद्धों ने विभिन्न सामाजिक वर्गों और समूहों के परस्पर सम्बन्ध, क्रिया-प्रति-क्रिया के सम्बन्ध में क्या विचार व्यक्त किये हैं तथा उनकी रचनाओं से तत्कालीन किन सामाजिक वर्गों तथा समूहों की स्थिति पर कैसा प्रकाश पड़ता है ।

चर्यापदों और दोहों के रूप में बौद्ध सिद्धों की जो रचनायें उपलब्ध हैं, उनमें से दोहों में संप्रदाय और शास्त्रनिरूपण ही

अधिक है, जब कि चर्यापदों में साधनात्मक अनूभूति की प्रधानता है । उनमें वैयक्तिक साधन को विशेष महत्व दिया गया है । दोहों में बौद्ध सिद्ध समाजोन्मुख अधिक हैं । अतः उनकी सामाजिक दृष्टि के लिये सर्वोत्तम आधार उनके दोहे ही हैं । चर्यापदों में उनकी यह दृष्टि बहुत ही सांकेतिक रूप में आ पाई है । चर्यापदों के टीकाकार मुनिदत्त ने उन संकेतों का यत्र-तत्र विस्तार किया है । राहुल सांकृत्यायन ने बौद्ध सिद्धों के काल के समाज पर विचार किया है । उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सरहपादादि सिद्धों ने धार्मिक और सामाजिक दोनों प्रकार के वर्गों अथवा समूहों को अपनी दृष्टि से देखा और उनकी आलोचना की है । बौद्ध सिद्धों ने जहाँ तक एक ओर अपने ही बौद्ध धर्म के पूर्वागत यानों और मतों पर प्रहार किया है, वहीं उन्होंने दूसरी ओर परधर्मगत विविध संप्रदायों, साधनाओं और मतों पर भी उतनी ही कठोरता से प्रहार किया है । वस्तुतः सहजयान ही उनका अपना धर्मसाधन है, शेष सभी अधर्म हैं अथवा बाह्यधर्म हैं । नीचे चर्यापदों में प्राप्त इस प्रकार के वर्गों और समूहों के प्रति बौद्ध सिद्धों के कुछ विचारों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है ।

बुद्धतीर्थिक

लुईपाद के चर्यापद (चर्यागीतिकोष-सं0 डॉ0 प्रबोधचन्द्र बागची, चर्यापद १) की टीका में मुनिदत्त ने सहजसाधन में स्वीकृत गुरुद्वारा उपदिष्ट मार्ग की व्याख्या करते हुए इतर साधनमार्गों एवं संप्रदायों पर भी अपनी टिप्पणियां दी हैं । 'श्री समाज' और 'हेवज्र तन्त्र' को उद्धृत करते हुए बतलाया गया है कि दुष्कर एवं तीव्र नियमों से दुःखित मूर्ति (शरीर) सूखती है । दुःख से चित्त चंचल होता है तथा सिद्धि अन्यथा हो जाती है । इसी प्रसंग में बुद्धतीर्थिकों की भी आलोचना की गई है । यहाँ लुईपाद की विचारणीय पंक्तियाँ हैं—

सअल समाहिअ काह करिअह,
सुख-देखेतें निचित भरिअह ।

इन बुद्धतीर्थिकों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन ब्राह्मण धर्मावलंबियों की तरह ही बौद्धों में भी बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पवित्र स्थानों को तीर्थ समझ कर उनकी यात्रा करने वाले लोग उपस्थित थे । इस चर्यापद की टीका में ऐसे लोगों को अज्ञानी कहा गया है । वे लोग महासुखविघातक एवं महासुखरहित थे । वे लोग बहुत से दुःखों का अनुभव कर जन्म-मरण के चक्र में सदैव घूमते रहते हैं । वे महासुख के भागी नहीं होते । इस प्रसंग में बंधनकारक और मोक्षकारक नामक दो प्रकार के रोगों की चर्चा की गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धतीर्थी के प्रति ऐसी धारणा को भी बौद्ध सिद्ध लोग बंधनकारक रोग ही मानते थे—

रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते ।
विपरीतभावना ह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिके ॥

इस प्रकार हेवज्रतन्त्र के इस प्रमाण के आधार पर मुनिदत्त ने स्वयं बौद्ध धर्मानुयायियों की ही आलोचना की है (चर्यागीतिकोष, पृ0 ४) ।

बालयोगी

कुक्कुरिपादरचित दूसरे चर्यापद की संस्कृत टीका में बालयोगियों की चर्चा की गई है । बालयोगी संवृत बोधिचित्त को धारण करने में समर्थ नहीं होते । तान्त्रिक बौद्ध साधना में बोधिचित्त के दो रूप वर्णित मिलते हैं । संवृत और विवृत अथवा सांवृतिक और पारमार्थिक । संवृत बोधिचित्त को कहीं-कहीं मलावलिप्त और चंचल शुक्र कहा गया है जो उष्णीष कमल (बौद्धों का सर्वोच्च कमल) में धारण नहीं किया जा सकता । 'वज्रमणि' का अर्थ है—मूलाधार-स्थानीय स्थान

विशेष जिसमें मलावलिप्त चंचलावस्था में शुक्र रहता है । विभिन्न ऊर्ध्वीकरण की क्रियाओं और अवस्थाओं में शनैः-शनैः स्थिर होता हुआ यह शुक्र उष्णीषकमल में पूर्णतया स्थिर हो जाता है । यदि भारतीय तान्त्रिक साधना के स्तरों के विभिन्न वर्गों की अवस्थाओं की दृष्टि से विचार किया जाय तो वीराचार में स्वीकृत शुक्रसाधना ही यहाँ समाचीन प्रतीत होती है । पश्वाचार में यह इस रूप में विधेय नहीं है । यहाँ जिस बालयोगी की चर्चा की गई है वह वस्तुतः बौद्ध तान्त्रिक साधना की बहुत प्रारंभिक साधना का साधक है जो शुक्र साधन में समर्थ नहीं होता है । जिस साधनामार्ग का वर्णन बौद्ध चर्यापदों में मिलता है, उसमें ऐसे प्रारम्भिक साधकों का प्रवेश नहीं है । (च0 गी0 को0 पृ0 ७, चर्यापद सं0 २) ।

इसी क्रम में टीकाकार मुनिदत्त ने स्पष्टतया कहा है कि गुरु परंपराक्रम में दीक्षित योगीन्द्र ही इस कायवृक्ष के फलरूप बोधिचित्त को धारण करने में समर्थ होते हैं । इसी प्रकार टीकाकार ने योगिवर, योगी आदि को भी ससम्मान स्मरण किया है और साधनक्रम में उनको अधिकारी भी स्वीकार किया है किन्तु बालयोगी को अनेक प्रसंगों में मूढ़ जैसे विशेषणों के साथ स्मरण किया है । (च0 गी0 को0 पृ0 ७, ५२, ५३) । ऐसा प्रतीत होता है कि, बालयोगी, सद्गुरु-बाह्य अथवा अदीक्षित होता है । आगे के हिन्दी साहित्य में सगुरा और निगुरा का वर्ग-विभाजन नाथों और सन्तों की रचनाओं में देखने को मिलता है । जैसे—

सगुरा होइ सु भरि-भरि पीवे निगुरा जाइ पियासा ॥
—गोरख बानी, सबदी २३ ॥

पारिब्रह्म बूठा मोतियां, धड़ बांधी सिषरांह ।
सगुरां सगुरी चुणि लिया, चूक पड़ी निगुरांह ॥
—कबीर ग्रन्थावली, साखी, अंग ५५, साखी ३

इस सहज योगसाधना के क्रम में प्रौढ़ योगी की अवस्था की ओर संकेत किया गया है । वह बलवान चन्द्र-सूर्य या वाम-दक्षिण दोनों को संघटित करता है अथवा मध्यमा में प्रवेश करता है । उसी स्थल पर बालयोगी को उपदेश किया गया है कि वह वज्रगुरु के प्रसाद से अग्रसर होकर इस कार्य को सम्पन्न करे । (च0 गी0 को0 पृ0 १0) । यदि उपर्युक्त सामग्री के आधार पर सहजयानी बौद्ध साधक के क्रम का विचार कर उनका विभाजन किया जाय तो उसे हम बालयोगी, प्रौढ़योगी, योगीन्द्र अथवा योगिवर कह सकते हैं । इस संपूर्ण विचारक्रम में बौद्ध सिद्धों ने सहज ज्ञान को ही प्रमुखता प्रदान की है जिससे विरहित योगी स्वचित्त हरिण के अवयवादि के विकल्पों की कल्पना नहीं कर पाते । ऐसे लोगों को इस साधन से भिन्न विभिन्न वाह्य शास्त्रों और आगमों का अभिमानी पण्डित घोषित करते हुए उन्हें धर्म-संमूढ़ माना गया है । ऐसे लोगों के हृदय में तत्वोन्मीलन नहीं होता (च0 गी0 को0 पृ0 २१-२२) ।

ब्राह्मनाड़िया

इस पद का प्रयोग कान्हपाद ने अपने चर्यापद संख्या १0 में किया है । 'नाड़िया' शब्द डॉ0 बागची की दृष्टि में आधुनिक बंगला में नड़ रूप में प्रयुक्त मिलता है जिसका संस्कृत रूपान्तर बटुक है । इसका तात्पर्य उस ब्राह्मण बटु से है जो अभी-अभी मुंडित हुआ हो । वस्तुतः बटुक अज्ञानी के अर्थ की ओर भी यहाँ संकेत करता है । इस पद की व्याख्या में टीका में कहा गया है—

'ब्राह्मणेति ब्रह्महुंकारबीजजातं चपलयोगत्वात् चित्तबटुकम् । (च0 गी0 को0 पृ0 ३३-३४) अर्थात् ब्राह्मण नाड़ियक ब्राह्मण बटुक रूप बोधिचित्त है । 'धम्मपद' के ब्राह्मण वग्ग में ब्राह्मण के गुण-धर्म की बौद्ध व्याख्या मिलती है जिसमें उसे अनासक्त, त्यागी, ध्यानी, ज्ञानी, निष्काम, निष्पाप, अकिंचन, जितेन्द्रिय,

प्रज्ञावान, क्षीणास्रव आदि कहा गया है । इस प्रकार वह चैतसिक दृष्टि से संपन्न है । यहाँ ब्राह्मण बटुक चित्तबटुक है जिसमें चपलता है । हमें प्रतीत होता है कि यह बौद्ध धर्म के विकास में ब्राह्मण सम्बन्धी विचार का विकास है । यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि के भेदविचारों से ग्रस्त चंचल चित्त को ब्राह्मण बटुक कहा गया है । धम्मपद में जन्मना ब्राह्मणत्व को अस्वीकार करते हुए कर्मणा ब्राह्मणत्व को स्वीकार किया गया है और उसमें चैतसिक सात्विक गुणों को ही महिमा प्रदान की गई है । आगे के बौद्ध साहित्य में भी विशेषकर तान्त्रिक बौद्ध साहित्य में ब्राह्मण के सांसारिक एवं बाह्य चांचल्य को प्रमुखतया दृष्टिगत रखते हुए उसे नैरात्म्य धर्म के अधिगमन के सर्वथा अयोग्य घोषित कर दिया गया है । मुनिदत्त की इस व्याख्या में 'ब्रह्महुंकारबीजजातं' पद्यांश स्पष्ट नहीं है, इस पर विचार और खोज की आवश्यकता है । बंगला और अंग्रेजी के व्याख्याकारों ने भी कम से कम टीका के इस अश को उपेक्षित छोड़ दिया है । इस ब्राह्मणबटुक की और व्याख्या करते हुए मुनिदत्त ने स्पष्ट किया है कि विभिन्न संप्रदायों के वे योगी अथवा ब्राह्मण पण्डित बौद्ध सहज धर्म से भिन्न शास्त्रों का अध्ययन कर अभिमानी हो जाते हैं । ऐसे लोग सहज साधन के अधिकारी नहीं हो सकते । इस प्रकार के लोगों को नैरात्म्य का केवल आभास मात्र होता है । वे उसका साक्षात्कार एवं अनुभूति प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते । प्राचीन काल में नगर-निवास की व्याख्या में चांडाल-डोम आदिकों का निवास नगर के बाह्य भाग में रहता था और उनके नगर-प्रवेश के समय विभिन्न प्रकार के संकेतों एवं सावधानतासूचक ध्वनियों और शब्दों से सवर्णों का स्पर्श बताया जाता था । किन्तु यहाँ संध्या भाषा के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि नैरात्म्यसाधना की दृष्टि से स्वयं ब्राह्मणबटुक अस्पृश्य है तथा रूपादि विषय समूहों के नगर में सदैव व्यस्त रहने वाला ब्राह्मणबटुक उस डोम्बी नैरात्मा के

सम्पर्क को नहीं प्राप्त कर सकता । इस प्रकार इस बौद्ध सहज साधना की दृष्टि से ब्राह्मण बटुक अनधिकारी एवं अपात्र है ।

पृथग्जन

कान्हपाद रचित एक चर्यापद (सं0 ४0) के ध्रुवपद की व्याख्या में टीकाकार मुनिदत्त ने पृथग्जन शब्द का प्रयोग किया है ।

भण कइसें सहस बोलवा जाअ ।
काअ वाक् धिअ जसु न समाअ ॥

मुनिदत्त के अनुसार यहाँ सहज तत्व की दुर्लभता का प्रतिपादन किया गया है । वेदादि सहज अनुत्तर ज्ञान का कथन करने में समर्थ नहीं हैं । वेदों का कथन करने वाले लोग सहजयान की दृष्टि से पृथग्जन हैं । उनके कायवाक् चित्त का सहज में अंतर्भाव सम्भव नहीं है । तिलोपाद को उद्धृत करते हुए टीकाकार ने इसे प्रमाणित किया है कि स्वसंवेद्य सर्वसंवेद्य है । जो कुछ दिखाई दे वह परमार्थ नहीं है । इस प्रकार स्वसंवेदन या प्रातिभ ज्ञान या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को महानता देते हुए वेद का अप्रामाण्य और वैदिकों की अपात्रता सिद्ध की गई है । इस प्रकार वैदिक या वेदाध्याय अथवा वेदप्रामाण्य स्वीकार करने वाले लोग सहजयान की दृष्टि से पृथग्जन हैं । (च0 गी0 को0, पृ0 १३१–१३२) ।

ऊपर बौद्ध सिद्धों के कुछ चर्यापदों की टीका से शब्दों का चयन कर विभिन्न साधनात्मक एवं सामाजिक वर्गों के प्रति व्यक्त होने वाले बौद्ध सिद्धों के कुछ विचारों को प्रस्तुत किया गया है । दोहों में इसी प्रकार विभिन्न ब्राह्मण, एकदण्डी, त्रिदण्डी, भगवावेशधारी, शैव, दीर्घनखधारी, जैनसाधु, मलिनवेषधारी, जैन, नग्न, क्षपणक, स्थविर, सूत्रांत–पाठक, महायानी मंडल–चक्र–साधक, दीप–नैवेद्य–पूजक, मन्त्र साधक, तीर्थ तपोवन–यात्री, गृही,

ध्यानहीन प्रव्रजित आदि विभिन्न वर्गों और समूहों की आलोचना की गई है । ऐसे लोगों को पशुओ की कोटि में गिना गया है ।

सहजयानी बौद्ध सिद्धों के उपर्युक्त विचारों के मूल में मेरी दृष्टि में कुछ दार्शनिक एवं साधनात्मक सिद्धान्त क्रियाशील दिखाई देते हैं जिन्हें क्रमशः अधिकारभेदवाद या गुरुशिष्यवाद, पिंडब्रह्मांडवाद, शक्तिवाद और अतीन्द्रिय प्रत्यक्षवाद आदि कहा जा सकता है । इन सिद्धान्तों को बहुत व्यापक रूप में भारतीय साधन संप्रदायों के साहित्य में देखा जा सकता है । इन सिद्धान्तों के आधार पर मेरा ऐसा विचार है कि सहजयानी बौद्ध सिद्धों की अन्य अनेक प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं की बहुविध व्याख्या की जा सकती है । इनके पीछे बौद्धों का तान्त्रिक दर्शन है जिसके कारण ही इन बौद्ध सिद्धों ने विशेष एवं निजी रूप में तान्त्रिक प्रभाव को ग्रहण किया है ।

बौद्ध धर्म की समाज-व्यवस्था

संगमलाल पांडेय

बौद्धमत ने भारत में सर्वप्रथम वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद की आलोचना की है । स्वयं गौतम बुद्ध ने 'सुत्त-निपात' में कहा है कि जन्म से कोई बड़ा या छोटा नहीं होता है । जन्म से कोई शूद्र या ब्राह्मण नहीं होता है । 'आश्वलायन-सूत्र' में वे कहते हैं कि जातिवाद उचित नहीं है । सुन्दरिक भारद्वाज सूत्र में वे कहते हैं 'जाति मत पूछो, आचरण पूछो ।' इस प्रकार गौतम बुद्ध ने नैसर्गिक वर्णव्यवस्था तथा जाति व्यवस्था का खण्डन करके सिद्ध किया है कि सभी मनुष्य एक समान हैं । सर्वप्रथम उन्होंने ही विश्व भर के सम्पूर्ण मनुष्यों को एक समान मानकर विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ।

धर्म और समाज-व्यवस्था

वैदिक धर्म का दावा है कि उसकी समाज-व्यवस्था धर्म से प्रादुर्भूत होती है । धर्म आर्षज्ञान से निकलता है और आर्षज्ञान परमात्मा के स्वरूप का दर्शन है ।

बुद्ध ने वैदिक धर्म के इस दावे का खण्डन किया है । उनके मतानुसार आर्षज्ञान परमात्मा के स्वरूप का दर्शन नहीं है और धर्म से कोई समाज-व्यवस्था नहीं निकलती है । शुद्ध धर्म निवृत्तिपरक है और वह वास्तव में भिक्षु-दर्शन है । अतः धर्म समाज का आधार नहीं है । धर्म का विस्तार क्षेत्र समाज के विस्तार क्षेत्र से भिन्न है ।

किन्तु समाज में धर्म का स्थान अनिवार्य है क्योंकि धर्म ही मनुष्य को परम सुख देता है और उसका परम कल्याण करता है । जिस देश के समाज में सच्चे धर्म अर्थात् मोक्ष धर्म के पालनकर्त्ता नहीं हैं वह अज्ञानियों का समाज है । 'ब्रह्मजालसूत्र' में स्वयं बुद्ध ने जड़वादी, भोगवादी तथा धर्मरहित भौतिक मतों

का खण्डन किया है । इस प्रकार उन्होंने एक ओर वैदिक वर्ण–व्यवस्था का खण्डन किया है तो दूसरी ओर लोकायत व्यवस्था का भी खण्डन किया है । पहली व्यवस्था में धर्म ही सब कुछ है और दूसरी व्यवस्था में धर्म कुछ नहीं है । दोनों व्यवस्थाओं से भिन्न मध्यमा प्रतिपत् बौद्धों का सिद्धान्त है । उनके अनुसार धर्म का समाज में सुनिश्चित स्थान होना चाहिए और धर्म के पालकों को समाज से उच्छिन्न नहीं करना चाहिए । आधुनिक युग में वैदिक परम्परा का विलोम साम्यवाद है जिसके उग्ररूप में धर्म और उपासना का कोई स्थान ही नहीं है । बौद्ध मत के अनुसार ऐसा साम्यवाद उच्छेदवाद है और वैदिक वर्ण व्यवस्थावाद शाश्वतवाद है । इन दोनों वादों का मध्यममार्ग यह है कि समाज–रूपी वृक्ष का मूल धर्म नहीं है किन्तु धर्म समाजरूपी वृक्ष का फल है । समाज में जन्म लेने का सर्वोत्तम फल निर्वाण प्राप्त करना है जिसके लिए धर्म ही एकमात्र मार्ग है ।

बौद्ध मत ने समाज में धर्म के स्थान को अक्षुण्ण मानकर धर्म की विवेचना में ही विशिष्टता प्राप्त की है और समाज के स्वरूप तथा कार्य के विषय में उपेक्षा की है, किन्तु यदि कोई कहे कि समाज में धर्म का स्थान नहीं है तो बौद्धमत अकाट्य तर्कों तथा धार्मिक अनुभूतियों और सिद्धियों के द्वारा सिद्ध करेगा कि धर्मरूपी फल यदि समाजरूपी वृक्ष में नहीं लगता है तो समाज कल्याणकारी न होकर अनर्थकारी है और सुखकर न होकर दुःखकर है ।

बौद्धमत में उपयोगितावाद का सिद्धान्त

बौद्धमत ने समाज दर्शन के क्षेत्र में एक ऐसा सिद्धान्त दिया है जो अभी तक सर्वश्रेष्ठ सामाजिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है । यह सिद्धान्त है—बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय का सिद्धान्त । पश्चिम के नीतिज्ञों में बेन्थम, मिल और सिजविक

ने बहुजन सुखाय के सिद्धान्त को ही 'बहुजनहिताय का सिद्धान्त' कहा है और सुख तथा हित में कोई अन्तर नहीं किया है । उनके विपरीत ग्रीन, ब्रैडले आदि नीतिज्ञों ने बहुजन हिताय के सिद्धान्त को मान्यता दी है और हित को सुख से श्रेयस्कर बताया है । भारत में भी कठोपनिषद् ने बुद्ध के पूर्व प्रेय या सुख तथा श्रेय या हित को एक-दूसरे का विलोम माना है । कणाद ने सुख और हित दोनों के समुच्चय को धर्म कहा है । फिर महानास्तिक उच्छेदवादी लोग जिनका वर्णन बौद्ध साहित्य में आता है सुख और हित दोनों को नहीं मानते हैं । इस प्रकार सुखवाद, हितवाद, उभयवाद (सुखहित का समुच्चयवाद) और अनुभववाद अर्थात् (न सुखवाद न हितवाद)— ये चार मत समाज रचना के आधार समय-समय पर बने हैं । चतुष्कोटिक न्याय पद्धति से इन चारों मतों को अपर्याप्त सिद्ध किया जा सकता है और यह निश्चित किया जा सकता है कि वास्तव में सुख और हित एक ही हैं । जो सुख है वह हित है और जो हित है वह सुख है और हित की यह मूल सुखएकता सुखवाद और हितवाद का अविवाद है । यह अविवाद बौद्धमत के अनुसार मानव समाज का आधार है ।

वास्तव में सुख और हित में तारतम्य है । यह तारतम्य भेद मात्रा और गुण दोनों रूपों में है किन्तु सुख वही ग्राह्य है जो हितवर्धक है और हित वही ग्राह्य है जो दुःख निरोधक है । बौद्धमत ने संघ, धर्म और बुद्ध की व्यवस्था करके प्राणिमात्र के सुख और हित की व्यवस्था की है । सुख और हित की इस सम्मिलित व्यवस्था का नाम करुणा का प्रसार है । संघ, धर्म और बुद्ध की शरण में जाने से बुद्ध की करुणा या कृपा प्राप्त होती है और उस कृपा से मनुष्य अपने दुःखों का निरोध प्राप्त करता है । इसी से मिलता-जुलता भक्ति मार्ग है जिसके अनुसार भक्ति मनुष्य के सुख और हित की प्राप्ति है ।

इस प्रकार बौद्धमत ने सुख और हित की अभिन्नता का जो सिद्धान्त दिया वह गृहस्थ और विरक्त सभी को सुख तथा हित प्रदान करने में समर्थ सिद्ध हुआ है । किन्तु इससे वास्तव में मनुष्य को आध्यात्मिक सुख और आध्यात्मिक हित ही प्राप्त हुआ है । इससे उसको भौतिक सुख नहीं मिला है और न उसका भौतिक कल्याण ही हुआ है । बौद्धमत ने सुख और हित की अभिन्नता पर इतना बल दिया कि वास्तव में वह केवल हित मात्र रह गया ।

परन्तु सुख और हित दोनों अलग-अलग मानकर और दोनों का समुच्चय करके ही बहुजनसुखाय और बहुजनहिताय सूत्र की व्याख्या की जा सकती है । मनुष्य के जितने सुख हैं और जितने हित हैं सबको अधिक से अधिक मात्रा में अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाना ही मानव समाज का एकमात्र ध्येय है । इस ध्येय को मानकर समाज व्यवस्था की जो कल्पना की गई है उसे उपयोगितावाद कहा जाता है ।

आधुनिक दार्शनिक रैण्डल ने अपने ग्रंथ 'दि थियरी ऑव गुड ऐण्ड ईविल' में इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की है । बौद्ध मतानुसारी समाज दर्शन इस उपयोगितावाद (Utilitarianism) के समीप होगा ।

बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय सूत्र में 'बहु' शब्द का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है । उपयोगितावादियों ने बहु के स्थान पर अधिक से अधिक संख्या रक्खी । महात्मा गाँधी ने इसके स्थान पर 'सर्व' रखकर सर्वोदय की कल्पना की । मूलतः इन तीनों पदों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । बहु भाव को ही उपनिषदों ने सर्वभाव कहा था । अधिक से अधिक का तात्पर्य बहु से ही है । एक अर्थ में बहु का प्रयोग इस प्रसंग में सर्वश्रेष्ठ है वह यह कि जो भी कर्म किया जाय उससे सभी लोगों को सुख नहीं मिल सकता है क्योंकि कुछ लोग स्वभावतः ऐसे होते हैं

जिनको कोई न कोई शिकायत या कष्ट प्रत्येक कर्म से मिल जाता है । कुछ भी हो मनुष्य की बुद्धि में कल्याण या सुख नापने का अभी तक कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं मिला है जो बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय से बढ़कर हो । वही कर्म सुखद और अच्छा है जिससे बहुत लोगों का सुख और हित हो ।

बहुजन कल्याण

'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' सूत्र में जैसे बहु, सुख और हित शब्दों का प्रयोग बहुत सारगर्भित है वैसे ही जन शब्द का प्रयोग यहाँ अत्यन्त सारगर्भित है । 'जन' शब्द का साधारण अर्थ मनुष्य किया जाता है । किन्तु इस अर्थ के अतिरिक्त इसका और एक अर्थ है जिसे अंग्रेज़ी में 'कम्युनिटी' कहते हैं । हिन्दी में इसे हम 'समुदाय' कहते हैं । बहुजन कल्याण का तात्पर्य केवल बहुत मनुष्यों का कल्याण ही नहीं है, अपितु बहुत समुदायों का भी कल्याण है ।

गौतम बुद्ध ने अपने समय के जनपदों का भ्रमण किया था और उनकी व्यवस्थाओं को देखा था । इन जनपदों में कुछ गणराज्य थे, कुछ राजतंत्र थे, और कुछ ज्येष्ठ तंत्र थे । बुद्ध के वचनों के अनुशीलन से लगता है कि उन्होंने किसी जनपद की व्यवस्था को ही नहीं अपनाया था प्रत्येक जनपद की व्यवस्था के साथ अपने धर्म का सामञ्जस्य किया था । गणराज्य, राजतंत्र और ज्येष्ठ तंत्र इन तीनों प्रकार के जनपदों ने बुद्ध धर्म को अपनाया था । कालान्तर में जब बौद्ध धर्म भारत से बाहर श्रीलंका, ब्रह्मदेश, मलयदेश, श्यामदेश, कोचीन, जापान, चीन, तिब्बत, गंधार, तुर्किस्तान, ईरान आदि देशों में पहुँचा तो वहाँ के जनपदों से भी उसने अपना सामञ्जस्य स्थापित किया । बौद्ध धर्म के इतिहास में यह सबसे अधिक उल्लेख योग्य बात है कि उसने किसी जनपद के ऊपर दूसरे जनपद को लादा नहीं है, उसने सभी जनपदों को मिटाकर किसी जनपद के

साम्राज्य को या उसकी समाज व्यवस्था को दृढ़ नहीं किया है । उसने जनपद-भेद को स्वीकार करते हुए समाज-भेद और संस्कृति-भेद को माना है । यही कारण है कि जिन जिन देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार है वहाँ के समाज और संस्कृति बौद्ध धर्म के रहते हुए भिन्न-भिन्न हैं । यह गुण हिन्दू धर्म, मसीही धर्म, इसलाम मत तथा साम्यवाद में नहीं है । इन मतों में बहुजन कल्याण के स्थान पर एक जन या एक जनपद का कल्याण है । ऐसी परिस्थिति में आधुनिक विश्व के लिए बौद्ध धर्म ही एक ऐसा सिद्धान्त देता हुआ प्रतीत होता है जिससे विश्व की नाना प्रकार की संस्कृतियों और समाज व्यवस्थाओं का समन्वय हो सकता है और प्रत्येक के विनाश का खतरा दूर हो सकता है तथा प्रत्येक के सर्वोत्कृष्ट विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकता है ।

बौद्ध दर्शन के उद्‌भव तथा विकास में बहुजन हित और बहुजन सुख के सिद्धान्त का बहुत हाथ रहा है । आज भी इस सिद्धान्त का बहुत बड़ा महत्त्व है क्योंकि आज अनेक जनपदों तथा जनों के उच्छेद का प्रश्न खड़ा हो गया है और हिंसा तथा शक्ति के बल पर एक जन विश्व के सभी जनों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रहा है या करना चाहता है ।

ऐसी परिस्थिति में बहुजन कल्याण का सिद्धान्त वास्तव में बहु-संस्कृतियों के जीवन का सिद्धान्त है और सभी देशों के स्वातंत्र्य का प्रश्न है । इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय का सूत्र जैसे विश्व-बन्धुत्व तथा मानव-समानता का सिद्धान्त है वैसे ही वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा मानव-स्वतन्त्रता का भी सिद्धान्त है । कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि स्वतंत्रता, समता और विश्व-बन्धुत्व का यह प्रथम और स्पष्ट उद्‌घोष है । कालान्तर में योरप में राष्ट्रीय स्वतत्रता और समता को लेकर जो ममाज-व्यवस्थायें

निर्मित की गई वे वास्तव में गौतम बुद्ध के इस सूत्र के विकास के रूप में हैं ।

ए. सी. इविंग ने सुखवादी प्राकलन के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि सुखवाद सुख की वृद्धि करने में सफल न हुआ हो किन्तु वह दुःखों को कम करने में अवश्य सफल हुआ है । यही बात सामान्य लोक अनुभव से भी सिद्ध होती है । यह उल्लेखनीय है कि बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय सिद्धान्त का प्रचार करने वाले गौतम बुद्ध ने सुख की प्राप्ति को आदर्श न मानकर दुःख के निरोध को मानव जीवन का आदर्श माना । स्पष्ट है कि उनके अनुभव में दुःख को कम करना ही सुख पहुँचाने का एकमात्र साधन था ।

दुःख निरोध का तात्पर्य बौद्धमत में दुःख के आत्यन्तिक निरोध से लगाया जाता है, यद्यपि समाज दर्शन में दुःख के आत्यन्तिक निरोध की चर्चा नहीं होती है तथापि आत्यन्तिक दुःख के निरोध में जो हेतु बताये गये है वे दुःख को कम करने में सहायक हैं । ये हेतु अष्टाङ्गिक मार्ग के अनुसार आठ हैं— जिनमें शील, समाधि और प्रज्ञा का समावेश है । शील का तात्पर्य सदाचार से है, यह शील पाँच प्रकार का है—प्राणातिपात विरति, अदत्तादान विरति, काम–मिथ्याचार विरति, मृषावाद विरति और सुरा–प्रमाद–स्थान मेरय विरति इन पंचशीलों को क्रमशः अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य और नशा–वर्जन कहा जा सकता है । स्पष्ट है कि ये पाँच सद्गुण उस आत्मसंयम के लिए आवश्यक हैं जो प्रत्येक समाज के सामाजिकों के पारस्परिक संबंध को सुखकर बनाता है ।

यद्यपि मौलिक बौद्ध मत में इस मत के प्रत्येक अनुयायी का आदर्श केवल अपने दुःख का आत्यन्तिक निरोध करना था तथापि महायान बौद्ध मत में एक मुक्ति के स्थान पर सर्वमुक्ति के आदर्श को मान्यता मिली । इस नई मान्यता के आधार पर

बौद्धों ने अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक दुःख दूर करना ही अपना धर्म समझा । इस कल्याण–भावना के कारण बौद्ध मतावलंबी प्रत्येक समाज में सम्मान के पात्र हैं और बने हैं ।

समाज का अस्तित्त्व : सहानुभूति

दुःखनिरोध और सर्वमुक्ति के सिद्धान्त द्वारा बौद्ध मत ने मनुष्यों की पारस्परिक सहानुभूति या दया को महत्व दिया है । यही सहानुभूति या दया समाज का आधार है । इस सिद्धान्त ने बौद्ध दर्शन की उस कमी को दूर कर दिया जिसके अनुसार मनुष्य–मनुष्य में कोई अन्तरयामी तत्व नहीं है । अन्तरयामी तत्व को न मानते हुए भी सहानुभूति के बल पर बौद्ध मत ने मानव–मानव को एक सूत्र में बाँधा है ।

समाज के अस्तित्व के लिए ऐसा ही सहानुभूति मूलक तर्क इंग्लैण्ड के उपयोगितावादियों ने दिया है जिनमें जॉन स्टुअर्ट मिल और डेविड ह्यूम के नाम उल्लेखनीय हैं ।[1] यही सबसे मनोवैज्ञानिक तर्क है जिसके आधार पर समाज का अस्तित्व सिद्ध है ।

समाज–व्यवस्था और दुःखनिरोध

यद्यपि सामान्यतः बौद्ध मत दुःख का कारण पूर्व जन्मकृत कर्म को मानता है और दुःख को दूर करने के लिए योग मार्ग को प्रस्तावित करता है और इससे पता चलता है कि दुःख तथा दुःखनिरोध के कारण के रूप में वह समाज व्यवस्था को महत्व नहीं देता है, तथापि बुद्ध ने कहा है कि पूर्व जन्मकृत कर्म से

· देखिए, नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, संगमलाल पाण्डेय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १५४ और समाज दर्शन की एक प्रणाली, पृष्ठ २१–२२

ही सब दुःख होता है ऐसा कहना मिथ्या है ।[1] इससे सिद्ध होता है कि दुःखों के कारण कुछ ऐसे हैं जो कर्म विपाक नहीं हैं । नागसेन कहते हैं कि सभी दुःख कर्म विपाक से नहीं होते हैं, बहुत सा दुःख दूसरे कारणों से होता है ।[2] फिर नागसेन दुःख के आठ कारण गिनाते हैं—वात, पित्त, कफ, सन्निपात, ऋतुपरिणाम, विषमाहार, उपक्रम और कर्मविपाक । फिर वात के आठ कारण हैं—सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, अति भोजन, देर तक खड़े रहना, अधिक श्रम और दौड़ना । स्पष्ट है कि इन कारणों में कुछ ऐसे हैं जिनके लिए समाज जिम्मेदार है जैसे—भूख, प्यास, अधिक श्रम आदि । ऐसी समाज व्यवस्था बनाई जा सकती है जिससे लोग भूखे, प्यासे, नंगे तथा देर तक मेहनत करने वाले न हों । इस प्रकार बौद्ध मत के अनुसार दुःख और दुःखनिरोध के कारण के रूप में समाज आता है । किन्तु बौद्ध धर्म मुख्यतः निवृत्ति-प्रधान होने के कारण समाज के इस रूप की अधिक विस्तृत व्याख्या न कर सका । उसने भुखमरी, अकाल, ऋण, दासता, परतंत्रता आदि दुःखों और उनके निरोध के कारण के रूप में समाज को नहीं लिया । किन्तु कदाचित् ऐसा विचार मध्ययुग तक के विचारकों ने भी नहीं लिया । ऐसा विचार उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की विशिष्ट देन है ।

बौद्ध मत एक ऐसी समाज व्यवस्था से सर्वथा सुसंगत है जिसमें स्वतंत्रता, मानव-मानव की समता, विश्व भ्रातृत्व, धर्म स्वतंत्रता तथा विभिन्न संस्कृतियों के प्रति समभाव का स्थान है । अभी तक किसी देश में ऐसे समाज की स्थापना नहीं हो सकी है । किन्तु फिर भी प्रत्येक समाज-व्यवस्था का यही आदर्श है

---

1 येते समणब्राह्मणा एवं वादिनो यं किं चायं पुरिस पुग्गलो परसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खं वा असुखं वा सब्बं तं पुब्बे कत् हेतु हि । यं सामं तं अति धामन्ति तस्मा तेसं समण ब्राह्मणानां मिच्छाति वदामि ।
(संयुक्त निकाय, मिलिन्दपन्हों पृष्ठ १३७ पर उद्धृत)

2 न सब्बा वेदना कम्म विपाकजा अप्पं कम्म विपाकजं बहुतरं अवशेषम् । (मिलिन्दपन्हों, पृ0 १३५-१३६) ।

और विश्व के उन्नतिशील तथा समृद्धिशाली देश इस समाज व्यवस्था को जन्म देने की ओर बढ़ रहे हैं । अतएव बौद्धों की यह कल्पना कि भविष्य में मैत्रेय बुद्ध जन्म लेंगे और बौद्ध धर्म की समाज स्थापना करेंगे इस अर्थ में सत्य प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म भावी मानवता का धर्म है ।

बौद्धदर्शन का सामाजिक पक्ष

द्विजराम यादव

प्रत्येक सभ्यता किसी न किसी धर्म की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि धर्म परम मूल्यों में विश्वास का और उन मूल्यों को उपलब्ध कराने के लिए एक पद्धति का प्रतीक होता है[1] । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विश्व का प्रत्येक धर्म मानव जाति के लिए एक नया जीवन-संदेश लेकर आता है और अपना स्थायी या अस्थायी प्रभाव समाज पर डालता है । किसी भी धर्म की सैद्धान्तिक स्थिरता स्थायी नहीं रह सकती क्योंकि उसके कुछ विचार और सिद्धान्त तात्कालिक समाज के हित पर आधारित रहते हैं, समय के साथ ही उनमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है । भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने शिष्यों को इस बात का उपदेश दिया था कि किसी भी मान्यता या सिद्धान्त से चिपके रहना अपने आपको पीछे ढकेलना है । किसी भी नये धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन मानव और समाज-कल्याण को दृष्टि में रखकर होता है, क्योंकि धर्म और समाज का घनिष्ठ संबंध है ।

भारत में बौद्ध धर्म के पूर्व समाज की व्यवस्था बड़ी उलझी हुई थी । वर्ण-व्यवस्था, कर्मकाण्ड और दार्शनिक वाद-विवाद के युग में समाज को एक महान् नेता (गौतम बुद्ध) की आवश्यकता थी क्योंकि उस समय का समाज अज्ञानरूपी अंधकार में अपना उचित मार्ग ढूँढ़ निकालने में असमर्थ था । जनता को कोई अधिकार नहीं था, पुरोहितों के अनुसार ही कर्मकाण्ड की विधि मान्य थी । सभी वर्ग के लोग धर्म के अधिकारी नहीं थे । ब्राह्मणों के अतिरिक्त वेद का पाठ-श्रवण किसी के लिए भी अनुचित था । जाति-पाँति के भेद-भाव के

---

1. स0 राधाकृष्णन् : धर्म और समाज, पृ0 १९

कारण जनता या समाज को आध्यात्मिक साधना के लिए समुचित अवसर नहीं था । आध्यात्मिक- साधना का अधिकार लेकर भगवान् बुद्ध का अविर्भाव इस धरती पर हुआ । उन्होंने सभी वर्गों को धर्म और आध्यात्मिक साधना का समान अधिकार दिया । जिससे यह स्पष्ट हो गया कि धर्म किसी वर्ग-विशेष की पैतृक संपत्ति नहीं है । वेदों में संचित आध्यात्मिक सत्य को पुरोहितों ने रहस्य की वस्तु बना दी थी और वहाँ तक समाज की पहुँच नहीं थी । इस प्रकार के रूढ़िवादी बंधनों से मुक्त होने के लिए भगवान् बुद्ध ने बिना किसी भेद-भाव के समाज के प्रत्येक वर्ग को अपना उपदेश दिया और संबोधि की शांति प्राप्ति के लिए सबको प्रेरित किया । धर्म के भीतर अपवृद्धियों के फलस्वरूप समाज में जो तनाव आ गया था, उसे उन्होंने अपने उदारवादी दृष्टिकोण द्वारा समाप्त कर डाला । इतना ही नहीं उन्होंने धार्मिक अपवृद्धियों को भी दूर किया और इस तरह 'निर्वाण' के लिए प्रत्येक सामाजिक प्राणी के लिए धर्म का दरवाजा उन्मुक्त कर दिया ।

बौद्ध धर्म अपने उदारवादी अहिंसा के सिद्धान्त पर समाज की जड़ तक पहुँच गया—भारत के कोने-कोने से अहिंसा की ध्वनि निकलने लगी । परन्तु भारत बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को पचा नहीं पाया, क्योंकि इस विशाल उदारतावादी धर्म का प्रभाव स्वतः विदेशों पर पड़ा । भारत से धर्मदूत एशिया के विभिन्न देशों तक बौद्धधर्म का संदेश लेकर पहुँचे । सभी लोगों ने इस धर्म को अपने समाज के लिए कल्याणप्रद समझा । व्यक्ति, समाज, संसार सब दुःखी क्यों हैं ? क्योंकि संसार स्वार्थी है और अपनी ही भावनाओं में डूबा रहता है, इसलिए आत्मभाव के परित्याग का संदेश लेकर गौतम बुद्ध आये । सारा विश्व-समाज दुःखी है । भगवान् बुद्ध इसके निदान के लिए कामना का परित्याग करने का उपदेश देते हैं । उनकी साधना चार आर्य सत्यों पर आधारित थी जो इस प्रकार हैं—

१. दुःख–आर्य सत्य; २. दुःख–समुदय आर्य–सत्य; ३. दुःख निरोध आर्य–सत्य और ४. दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग आर्य–सत्य जो श्रेष्ठ सत्य है ।

बौद्धधर्म के सामाजिक पक्ष पर चिन्तन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में फैली हुई कुरीतियों और अत्याचारों का शमन करना सामाजिक पक्ष में लाभप्रद एवं आवश्यक है । विश्व के सभी धर्म कुछ हद तक इसी विधान की सृष्टि करते हुये हमारे सम्मुख आते हैं कि वह अपने सुनियोजित नियमों द्वारा समाज का कल्याण कर सकें । पीड़ित मनुष्य सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सके, यही सबका उद्देश्य रहता है । सामाजिक शान्ति के साथ ही साथ व्यक्तिगत आत्मशान्ति भी आध्यात्मिक साधना में निहित रहती है ।

बौद्ध धर्म ने समाज के लिए कुछ इसी प्रकार का कार्य किया । जातककालीन भारत में श्रेष्ठजनों के आदर के साथ ही उनकी कुलीनता पर अधिक बल दिया जाता था । कुल, धर्म, जाति, चरित्र आदि की दृष्टि से पतित व्यक्ति को हीन मानने का विधान था । ऐसे लोगों को 'अनार्य', 'व्रात्य' की संज्ञा दी जाती थी । जातक कालीन बौद्ध समाज उस समाज को प्रधानता नहीं देता था जिसमें श्रेष्ठजनों का अभाव हो । उस समय केवल ज्ञानी, शीलवान व्यक्ति को ही आदर और श्रद्धा की दृष्टि से समाज में स्थान मिलता था—

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्सा मोघ जिण्णो तिवुच्चति ॥

(लकुण्टक भद्दिय थेर गाथा, धम्मपद १९.५)

यह परम्परा एकदम नयी नहीं बल्कि प्राचीन काल से चली आ रही थी और चलती रहेगी । जातककालीन बौद्ध धर्म ने समाज को परिशुद्ध करने के लिए कठोर नियमों की व्यवस्था की थी ताकि समाज में कलुषित भावनाओं का प्रवेश न हो सके । इसीलिये सरिता की तीव्र धारा में प्रवाहित नीच व्यक्ति

को बचाने की अपेक्षा बहती हुई लकड़ी बाहर निकालना उत्तम समझा जाता था—

सच्चं किरेवमाहंसु नरा एकच्चिया इध ।
कट्ठं विप्लावितं सेय्यो न त्वेवेकच्चियो नरो ॥

(सच्चंकिर जातक)

इस प्रकार के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के नियम सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के निमित्त ही रचे गए थे । भगवान् बुद्ध ने अपने गौरवशाली अतीत की पृष्ठभूमि में भविष्य की ओर अपना ध्यान रखा था । यह दूरदर्शिता ही उनके जीवन की चरम तपस्या–सिद्धि है । उन्होंने वैदिक आर्य–संस्कृति को 'वर्तमान' में रखकर परखा तथा उसके भविष्य के बन्द द्वार को जन साधारण के लिए उन्मुक्त कर दिया । मानव समाज बौद्धिक या आध्यात्मिक उन्नति निम्नलिखित छः प्रकार से कर सकता है—

आरोग्यमिच्छे परमं च लाभं ।
सीलं च बुद्धानुमतं सुतं च ।
धम्मानुवत्ती च अलीनता च ।
अत्थस्स द्वारा पमुखा छडेते ।

(अत्थस्सद्वार जातक)

शील द्वारा ही मानव मन, वचन और कर्म की शुद्धि कर सकता है । अतः भगवान् बुद्ध ने कहा कि मानव अपना उत्तरदायी स्वयं है । उसे स्वयं प्रयत्नशील होना चाहिए । इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि जातक युग में स्त्रियों के अनैतिक कार्यों का काफी वर्णन मिलता है—

सब्बा नदी वंकगता सब्बे कट्ठमया वना ।
सब्बित्थियो किरे पापं लभमाना निवातके ॥

(अंडभूत जातक)

वैसे तो साधना में हर युग नारी को माया के रूप में स्वीकार करता है परन्तु बौद्ध धर्म के परवर्ती वज्रयान में

'युगनद्ध' साधना को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है । लेकिन सब मिलाकर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जातक काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत खराब थी । भगवान् बुद्ध ने भी बाद में स्त्रियों को बौद्ध धर्म की शिक्षा दी थी लेकिन उसी समय यह संदेह व्यक्त कर दिया था कि अब बौद्ध धर्म की आयु घट गई ।

इस प्रकार जब विभिन्न परिस्थितियों से गुजरता हुआ बौद्ध धर्म तांत्रिक बौद्ध साधना या वज्रयानी बौद्ध साधना में परिणत हुआ, उस समय समाज और साधक का एक और ही रूप हमें मिलता है । वज्रयानी सिद्धों की रचनाओं के आधार पर तत्कालीन समाज का अच्छा चित्र उपस्थित किया जा सकता है । मद्य, मांस और मैथुन का इस साधना में खुले आम विधान था जिसकी पुष्टि सिद्धों की रचनाओं के आधार पर की जा सकती है ।

एक से शुण्डिनि दुइ धरे सान्धअ ।
चीअण वाकलअ वारुणी बांधअ ॥
(चर्या० ३/१)

वज्रयानी साधना में प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्द साधनाओं की गूढ़ता को अभिव्यक्त करते हैं, लेकिन उनके लौकिक अर्थ के आधार पर तत्कालीन समाज का परिचय सहज ही प्राप्त हो जाता है । वज्रयानी बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में तांत्रिक साधना की जो अभिव्यक्ति हुई है, उसमें लोक-जीवन की स्पष्ट झाँकी मिलती है जिसके आधार पर सामाजिक दर्शन प्रस्तुत किया जा सकता है । भगवान् बुद्ध ने जिस कर्मकांड का विरोध किया था वह समूल नष्ट नहीं हुआ था उसकी परम्परा चली आ रही थी, इसीलिए ८वीं शताब्दी में सिद्ध सरहपाद ने कहा—

ब्रह्मणेहि म जाणन्त हि भेउ । एवइ पढ़अउ ए च्चउ वेउ ।
मट्टी पाणी कुस लइ पढ़न्तं । घरहि वइसी अग्गि हुणन्तं ।

कज्जे विरहिअ हुअवह होमें । अक्खि उहाविअ कडुएं धुमें ।[1]

भारत भूमि की अपेक्षा बौद्ध धर्म विदेशों में अधिक प्रभावशाली रहा, क्योंकि 'बोधिसत्त्व पीड़ित मानवता की मुक्ति के लिए अपना बलिदान करते हैं । यह पथ श्रोताओं या शिष्यों के पथ से भिन्न है जो अपनी व्यक्तिगत मुक्ति अथवा ज्ञान प्राप्ति के उपाय करते हैं ।[2] बौद्ध धर्म का विश्व में इतना अधिक प्रसार हुआ कि उसकी तुलना अन्य किसी धर्म से नहीं की जा सकती, जिसका मुख्य कारण था कि उसने मानव समाज के लिए एक नया जीवन संदेश दिया । विश्व के इतिहास में मानव कल्याण के लिए यह एक विराट धार्मिक क्रान्ति थी जिसमें मानवता और अहिंसा को प्रमुख स्थान था । अहिंसा और प्रेम की आवश्यकता मानव समाज को प्रत्येक युग में थी और आज भी है । संभवतः मानवता के इतिहास में इससे बड़ा आन्दोलन दूसरा नहीं है । भगवान् बुद्ध का यह संदेश था कि जीव अपनी तृष्णा हनन करने के बाद ही दुःखातीत अवस्था या निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है तथा अष्टांग मार्ग (सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् दृष्टि) द्वारा ही अपने शरीर और विवेक को नियंत्रित कर सकता है ।

महायान बौद्ध धर्म में असंख्य बोधिसत्त्वों की स्थिति कही गई है और प्रत्येक बोधिसत्त्व सर्वव्यापी होने के साथ सभी लौकिक प्राणियों के उद्धार का प्रण करते हैं । 'सद्धर्मपुण्डरीक' के पच्चीसवें अध्याय में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के संबंध में लिखा हुआ मिलता है कि मानवता की सेवा के लिए ही उन्होंने बत्तीस शरीरों में प्रवेश किया था जिससे उनकी पूजा करके प्राणी गुणवान हो सकें । महायान के अनुसार यह धरती ही स्वर्ग से उत्तम है क्योंकि यहाँ पर पापी, पतित, दुराचारी भी आध्यात्मिक

---

1 चर्यागीतिकोष, पृ० १८८

2 राधाकमल मुकर्जी भारत की संस्कृति और कला, पृ० १२७

ज्ञान, स्वार्थ–रहित उपदेश और मुदिता का पाठ एक साथ पढ़ते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में रह कर ही सामाजिक प्राणी अपनी लालसाओं और कामनाओं को अपने वश में कर सकता है तथा निर्वाण–प्राप्ति इस संसार में ही कर सकता है । इस प्रकार जब समाज के सभी लोग बुरी भावनाओं आदि का त्याग कर देंगे तो समाज सुखी और निरापद रह सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं । बौद्ध धर्म की करुणा और अहिंसा का आदर्श ही एक ऐसा अमोघ अस्त्र था जिसके बल पर उसे सर्वत्र विजय मिलती गयी । इन दोनों आदर्शों पर चलने के कारण समाज का अधिक कल्याण हुआ ।

आज के भौतिकवादी समाज के लिए बौद्ध धर्म की उपयोगिता के संबंध में जब हम विचार करने बैठते हैं तो हमारे सामने एक बहुत ही जटिल समस्या आ उपस्थित होती है । आज सर्वत्र एक अभूतपूर्व परीक्षण चल रहा है । मानव विचारधारा के मार्ग में अपूर्व क्रांति आयी है । धर्मों के बंधन ढीले पड़ते जा रहे हैं । प्राचीन मान्यताएँ चाहे वे धार्मिक हों अथवा सामाजिक सबमें परिवर्तन होता जा रहा है । धार्मिक नेताओं या प्रतिनिधियों की लिप्सा और भोगवादी प्रवृत्ति के कारण विचारकों में उनके प्रति श्रद्धा नहीं रह गयी । इसीलिए आज धार्मिक आदर्शों और मानव मूल्यों को विचारों की कसौटी पर खरा उतरना पड़ रहा है । बौद्ध धर्म अहिंसा और मानवतावाद के आदर्शों पर टिका हुआ है इसलिए आज के भौतिकवादी युग के लिए अपना मानवतावादी उपदेश लेकर उपस्थित है । आज का समाज लोभ, घृणा, मोह आदि की अहंकार–आग में तप्त होकर झुलस रहा है । यह सब क्यों हो रहा है ? क्योंकि हमारे भीतर लिप्सा अधिक मात्रा में बढ़ गई है । अतः वह किसी को चैन से जीने भी नहीं दे रही है ।

समाज के प्रत्येक मानव का धर्म है कि वह 'संग्रह' की अपेक्षा 'त्याग' पर अधिक बल दे । धर्म से ही समाज कल्याण

की आशा की जा सकती है । बौद्ध धर्म में एक तरफ तो ये आदर्श खड़े हैं दूसरी तरफ मानवता और धर्म के साथ युद्ध करता हुआ भौतिकवाद । तुर्कों के प्रहार तथा मुसलमानों के आक्रमण के कारण भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास एक महान् ऐतिहासिक घटना है । आततायियों ने बौद्ध मंदिरों, विहारों को जलाकर राख कर दिया था, उस समय धर्मरक्षक किसी प्रकार पड़ोसी देश (नेपाल, तिब्बत) की ओर चले गये । तिब्बत में बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार हुआ । इस प्रकार की घटना हमारे सामने ही हुई है जिसका परिणाम हम सभी लोग देख रहे हैं । तिब्बत पर चीन के निर्मम आक्रमण ने पुनः बौद्ध धर्म की जड़ को हिला दिया । भारत की जो साहित्यिक और सांस्कृतिक संपदा तिब्बत में संचित थी उसको चीनियों ने विनष्ट कर दिया । असंख्य बौद्ध भिक्षु (लामा) आततायियों के हाथ पड़कर अपना जीवन खो बैठे । इस तरह बौद्ध धर्म के अहिंसा और मानवतावाद को पुनः गहरा धक्का पहुँचा । बौद्ध धर्म का अनुयायी चीन इस प्रकार से बौद्ध धर्म को समूल विनष्ट करने में लगा कि तिब्बत से बौद्ध धर्मावलम्बियों को भारत का आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा । क्या आज के युग में बुद्ध का अहिंसा सिद्धान्त काम नहीं आ सकता ? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना कठिन–सा हो गया है, क्योंकि हर सामाजिक प्राणी किसी कार्य के फल पर ध्यान देकर कार्य करता है । मानवता की रक्षा के लिए अहिंसा ही उत्तम उपाय है । परन्तु इसके लिए काफी धैर्य और परिस्थिति की अनुकूलता की प्रतीक्षा और आवश्यकता है । हमारे सामने महात्मा गाँधी जैसे सत्य और अहिंसा के पुजारी का उदाहरण है जिसके सम्मुख ब्रिटिश शक्ति झुक गई । सत्य और अहिंसा के आधार पर ही विश्वशान्ति की कामना की जा सकती है ।

इन निष्कर्षों के साथ यह भी सोचना पड़ता है कि हिंसा और क्रूर अत्याचार के सम्मुख अहिंसा कब तक टिकी रह सकती है । जिस युग में 'पंचशील' का भी खण्डन हो सकता

है, उस युग में क्या असंभव है । वैसे धर्म-युद्ध हर युग में होता रहा है और होता रहेगा क्योंकि इसमें मानवमूल्यों का मूल्यांकन होता है । जाति और समाज में समय की गति के साथ परिवर्तन और सुधार होते रहते हैं, समाज की आवश्यकताएं परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती हैं । अतः कहा जा सकता है कि सामाजिक प्रगति के साथ ही युगानुकूल धार्मिक सिद्धान्तों में भी परिवर्तन करना अनिवार्य-सा हो गया है । बौद्ध धर्म शान्ति चाहता है जिससे मानव सभी प्रकार की अव्यवस्था, वैर-भावना आदि से मुक्त होकर सुखद जीवन यापन कर सके । ऐसा नहीं है कि विश्व के लोग इसका अनुभव नहीं कर रहे हैं । सबके भीतर शान्ति की कामना है ।

बौद्ध धर्म के आदर्शों पर यदि आज का मानव चले तो समाज कल्याण की बहुत अधिक संभावना है, क्योंकि हिंसा और युद्ध से शांति की स्थापना असंभव है । अशांत और अन्यायपूर्ण वातावरण से मुक्त होने के लिए भगवान् बुद्ध का अहिंसा तथा प्रेम मार्ग ही उत्तम मार्ग है । भगवान् बुद्ध को जब इस संसार से विरक्ति हुई थी उसी समय उन्होंने यह प्रण किया था कि सांसारिक दुःखों का उपाय खोजे बिना वे चैन नहीं लेंगे । इस अनुभूति के कारण ही उनमें महाकरुणा की उत्पत्ति हुई और वे सब कुछ छोड़कर चले गए । उन्होंने दुःख से मुक्ति पाने का जो उपदेश किया वही दुःख-निरोध का एकमात्र मार्ग था । उन्हें अपने इस मार्ग में विशेष सफलता मिली थी । उनकी इस साधना में आध्यात्मिक साधनाओं की दिशा केवल लोकाभिमुखी ही नहीं हुई, प्रत्युत भारतीय साधना के एक विशाल क्षेत्र में आध्यात्मिक विकास के लिए लोक-परित्राण के महत्त्व को स्वीकार किया गया । इस प्रकार अध्यात्म साधना व्यक्तिगत क्षेत्र से उठकर लोक-परायण बन गयी ।

Library IIAS, Shimla
H 181.491 M 314 B
00095019